Nibandha Mala Journal

Certificate of Publication

is awarded to

प्रो आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

for the paper titled

बौद्ध दर्षन में अपरिग्रह की अवधारणा

Published in *Nibandha Mala* Journal Vol-11, Issue-12 December- 2019 ISSN: 2277-2359

International Refereed and Indexed Journal for Research Publication

With Impact Factor 5.1 UGC Care Listed

S.N. Sharma

Editor-in-Chief

editor@hindijournals.org

UGC
University Grants Commission

EDUINDEX

Nibandha Mala *(Bimonthly Hindi Journal)*

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

बौद्ध दर्षन में अपरिग्रह की अवधारणा

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी[1], मुनि पुलकित कुमार[2]

[1]निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं।
[2]शोध छात्र, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं।

सार संक्षेप

भारतीय परम्परा में अपरिग्रह व्रत की अवधारणा श्रमण परम्परा की देन है। श्रमण संस्कृति की दो धाराएं रही हैं जो कालान्तर में अलग-अलग धर्म-दर्शन के रूप में विकसित व प्रसारित होती चली गई-(1) जैन दर्शन (2) बौद्ध दर्शन। दोनों परम्पराओं में साधनागत कुछ समानता रहते हुए भी सिद्धान्तगत कुछ भिन्नताएं नजर आती हैं। फिर भी अपरिग्रह की विचार धारा पर दोनों कुछ अंशों में एक मत होते दिखाई देते हैं।

महात्मा बुद्ध ने समय- समय पर शिष्यों को शिक्षा देते हुए तृष्णा के त्याग और दान के महत्व को उजागर किया है जो अनासक्ति और अपरिग्रह के बिना संभव नहीं होता।

जैन परम्परा में जिसे परिग्रह कहा गया उसी को बौद्ध परम्परा में तृष्णा कहा है। तृष्णा या आसक्ति ही परिग्रह का मूल है। यद्यपि आसक्ति एक मानसिक वृत्ति है तथापि उसका प्रकटन बाह्य वस्तुओं से है बन्धन में निमित्त कारक है।

भगवान बुद्ध का मानना था कि-"परिग्रह कायिक कर्म न होकर मूलतः मानसिक भाव तृष्णा पर आधारित है।" अतः दीघनिकाय में बुद्ध ने लोभ को सभी बुराईयों की जड़ कहा है।" इस प्रकार बौद्ध दर्शन का स्पष्ट अभिमत रहा कि "परिग्रह जहां तृष्णा की तड़पन है वहीं अपरिग्रह संतोष वृत्ति का सुख है।

मुख्य शब्दावली

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

- अपरिग्रह
- अकिंचन
- तृष्णा
- अनादान ज्ञाता
- संतोषवृत्ति
- विततृष्णा
- अल्पेच्छा
- बोधिचित्तोत्पाद
- दुःख निरोध
- अनासक्ति
- कर्म क्लेषक्षय
- दान पारमिता

धम्मपद में अपरिग्रह

'धम्मपद' बौद्ध साहित्य का सबसे ज्यादा लोकप्रिय ग्रन्थ है। बौद्ध धर्म में इसका उसी प्रकार महत्व एवं प्रचार है जैसे हिन्दू संसार में 'गीता' का। धम्मपद एक ऐसा बौद्ध ग्रन्थ है जिसकी प्रत्येक गाथा में बुद्ध के धर्म का सार भरा हुआ है। इसमें कुल 26 वर्गों के अंतर्गत 423 गाथाएं हैं।

बुद्ध का वचन है- **"नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि"**।[1] "दुनिया में राग के समान अग्नि नहीं है, द्वेष के समान क्लेश नहीं है। राग और द्वेष ही परिग्रह के मूल हैं। इन्हीं से परिग्रह के प्रति मोह का भाव पनपता है।

धम्मपद के चैबीसवें **'तण्हावग्ग'** में **'अनादान ज्ञाता'** अर्थात् **'अपरिग्रही'** को महाप्राज्ञ की उपमा देते हुए लिखा है-

"वीततण्हो अनादानो निरूत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं जंञा पुव्बापरानिच,
स वे अन्तिम सरीरो महापन्नोति वुच्चति।।[2]

अर्थात्- "जो तृष्णारहित, परिग्रह रहित, निरुक्ति और पद (चार प्रतिसम्पदा का जानकार है, वही अन्तिम शरीर वाला तथा महाप्राज्ञ कहलाता है।" जिसने तेज प्रवाह वाली तृष्णा रुपी नदी को पूरा सुखा दिया है वह भिक्षु संसार को उसी प्रकार छोड देता है जिस प्रकार सर्प पुरानी

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

कैंचुली को छोड देता है।[3] इससे आगे बुद्ध ने कहा- "तृष्णा के पीछे पड़े प्राणी, बंधे हुए खरगोश की भांति चक्कर काटते रहते हैं, इसी तरह संयोगों (मोहराग) में फंसे मनुष्य बार-बार चिरकाल तक दुःख को प्राप्त होते हैं।"[4] इसी के 'ब्राह्मणवग्ग' की गाथाओं में उसे ही सच्चा ब्राम्हण कहा गया है जो अकिंचन और अनादान है, किसी भी तरह का परिग्रह नहीं रखता **"अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रुमि ब्राह्मणं"**[5] पाली-हिन्दी कोष में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'अकिंचन' को भिक्षु का विषेषण मानते हुए अर्थ किया है-'जिसके पास कुछ न हो, परिग्रह से रहित हो।'[6]

'धम्मपद' के तृष्णा वर्ग में कहा गया- **"विततृष्णा"**[7] मुक्ति-निर्वाण का उत्तम साधन है। जो व्यक्ति तृष्णा को वश में कर लेता है, उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते है, जैसे 'कमल पत्र पर रहा हुआ जल बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।' इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति ही वास्तविक दुःख है और अनासक्ति ही सच्चा सुख है।

बुद्ध ने इस संदर्भ में सही कहा है कि -"बुद्धिमान ज्ञानी लोग उस बंधन को बंधन नहीं मानते, जो लोहे आदि धातु का हो, काष्ठ अथवा रस्सी का बना हो, अपितु दृढ़तर- गाढतम बंधन तो धन, दौलत, पुत्र, स्त्री आदि में बसी हुई व्यक्ति की आसक्ति ही है।" "ऐसी विषैली आसक्ति अथवा तृष्णा जिसे घेर लेती है, उसके दुःख, शोक वैसे ही बढ़ते जाते है, जैसे खेतों में वीरण घास बढ़ती रहती है।"[8]

बुद्ध कहते हैं कि- "स्वर्णमुद्रा की वर्षा हो जाए, लेकिन उससे तृष्णायुक्त मनुष्य की तृप्ति नहीं होती।"[9] तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सभी बंधन स्वतः नष्ट हो जाते है। धम्मपद 347 के अनुसार "जो राग 'तृष्णा' में आसक्त है वे मनुष्य मकड़ी की तरह अपने बनाए जाल में सबको फंसाते हैं।" बुद्ध का मानना था कि जैसे खेतों का दोष-तृण है, वैसे ही मनुष्य जीवन का दोष 'तृष्णा' है।"[10]

मज्झिमनिकाय में अपरिग्रह

बुद्ध की दृष्टि में तृष्णा ही दुःख का मूल है। **"तन्हाय जायती सोको, तन्हाय जायती भयं।"** यह शोक और भय को उत्पन्न करती है।"[11] जब तक तृष्णा शांत नहीं होती, तब तक दुःखों से मुक्ति संभव नही है। **"मज्झिम निकाय"** में भगवान बुद्ध की स्पष्ट देशना है कि "तृष्णा" जगत के समस्त विद्रोह तथा विरोध की जननी है। उसी के कारण राजा-राजा से, क्षत्रिय क्षत्रिय से लड़ाई करता है। माता पुत्र से, पुत्र माता से तथा परिवारजन आपस में लड़ते हैं।"[12] तृष्णा समस्त पाप कर्मों की जननी है। चोर उसी के लिए चोरी करता है, धनी इसी के लिए

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

गरीबों का शोषण करता है। यह संसार तृष्णा मूलक है। तृष्णा ही दुःख का कारण है। अतः अनासक्ति प्रत्येक प्राणी का कत्तव्य है।" **"तृष्णा संक्षय विमुक्ति"**[13] अर्थात्-"तृष्णा के विनाश से होने वाली मुक्ति को धारण करो।"

तृष्णा बंधन कारक है, इससे मोह बढ़ता है। अतः 'भिक्षुओं तृष्णा का विनाष करो। अप्रमादी होकर, सुखपूर्वक संयमित जीवन व्यतीत करो।' बौद्ध मान्यतानुसार तृष्णा एक ऐसी खाई है जो कभी भी पाटी नहीं जा सकती। हमारे जन्म का कारण तृष्णा है जो हमे सांसारिक विषयों की ओर खींचती है। हमारी तृष्णा ही हमें विषय लोलुप बनाती है। तृष्णा ही पुनर्जन्म का कारण है।"[14]

सुत्तनिपात में अपरिग्रह

सुत्तनिपात में बुद्ध ने कहा है-"आसक्ति ही बंधन है।"[15] सच्चे श्रावक की पहचान बताते हुए तृष्णाक्षय पर बल दिया है-"दिव्य काम भोगों में जिसे रति नहीं होती और तृष्णा के क्षय होने पर जो सुखी होता है, वही बुद्ध का सच्चा श्रावक कहलाता है। आसक्ती के लिए बौद्ध ग्रन्थों में **'अज्झोसान'** और **'अभिसंग'** शब्दों का प्रयोग हुआ है। "आसक्त मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख भोगते है।" आसक्ति का क्षय ही दुःखों का क्षय है।"[16]

"बुद्ध के आचार दर्शन का सारा बल तृष्णा के प्रहाण पर है। तृष्णा को उखाड़ फेंकने वाले का पुर्नजन्म नहीं होता।" तृष्णा के सभी निवेशनों (आश्रय स्थानों) को उच्छिन्न करने के लिए बुद्ध ने अनात्म का उपदेश दिया। वस्तुतः यह अनासक्ति की उच्चतम अवस्था है। इस अनात्म का उपदेश उन्होंने तृष्णा के प्रहाण एवं ममत्व के विसर्जन के लिए दिया था।"

बुद्ध के अनुसार-**"तण्हाय विप्पहातेता निव्वाणं"**[17] तृष्णा का खत्म होना ही निर्वाण प्राप्ति है। अस्तित्व की चाह ही तृष्णा है। पाली-हिन्दी कोश में **'अतितण्ह'** का अर्थ अत्यन्त लोभी किया है। वही अनासक्ति के संदर्भ में **'असत्त'**, **'असंग'** एवं 'अलग्गन' शब्दों का उल्लेख किया है।[18] मुक्ति तो वीतरागता या अनासक्ति में ही प्रतिफलित होती है।" अतः बुद्ध की दृष्टि में भी अनासक्ति की वृत्ति के लिए परिग्रह का विसर्जन आवश्यक है। क्योंकि तृष्णा की अग्नि को परिग्रह परिमाण के त्याग जल के द्वारा ही शांत किया जा सकता है।

वस्तुतः आध्यात्मिक विकास या तृष्णा की समाप्ति के लिए हृदय में **"संतोष वृत्ति"** का उदय अत्यन्त आवश्यक है। इसे सर्वोत्कृष्ट धन बताते हुए कहा गया-

"संतुट्ठी परमं धनं।"[19] सन्तोषवृत्ति सर्वोत्कृष्ट धन है।

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

असंतोष को दुःख का कारण बताते हुए कहा- "विषय वासना में लिप्त होने से बढ़कर कोई पाप नहीं है, असंतोष से बढ़कर कोई दुःख नहीं, लोभ से बढ़कर कोई अनर्थ नहीं है और संतोष में शाश्वत सुख है।" बुद्ध ने आगे कहा- "भिक्षुओ! संसार में दो प्रकार के व्यक्ति अति दुर्लभ हैं - एक वह जो स्वयं तृष्णा रहित तृप्त है, संतुष्ट है और दूसरा वह जो दूसरों को संतुष्ट अर्थात् तृप्त करता है।"[20] क्योंकि **"अन्तो जटा, बही जटा, जटाय जटिता पजा"** अर्थात्- "भीतर तृष्णा रूपी जटा, बाहर भी पदार्थ रूपी जटा है। इस तरह जगत की प्रजा इस जटा में चारों तरफ से जकड़ी हुई है।"[21]

अंगुत्तरनिकाय में अपरिग्रह

बुद्ध ने अंगुत्तर निकाय में प्रश्न का समाधान देते हुए अनासक्ति पर विशेष बल दिया है-

"समिद्धि कीं सारा? विमुत्तिसारा।"[22]

अर्थात्-समृद्धि का सार क्या है? उत्तर- "विमुक्ति (अनासक्ति) ही भौतिक समृद्धि का सार है।" मनुष्य सुख-शांतिपूर्वक सोना-नींद लेना चाहता है पर उसके द्वारा संग्रहित सोना अर्थात् स्वर्ण उसे सोने नहीं देता। क्योंकि उसकी आसक्ति और भय नींद में विघ्न डालते हैं। दूसरे प्रकार का व्यक्ति जो अनासक्त और तृष्णा मुक्त है उसके लिए स्वर्णधातु मात्र होकर मिट्टी के ढेले से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। यहां अंतर केवल विचार चेतना का है।"

इसी विचार चेतना को "अंगुत्तर निकाय" में बहुत ही सरल तरीके से पेश किया गया है- "दो प्रकार के मनुष्य ही अपरिग्रह सुख से भावित हो सकते हैं, वे है- एक तो वह जो पूर्ण तृप्त 'तृष्णा' रहित है जिसे परिग्रह की भूख नहीं सताती और दूसरा वह है जो प्रतिफल की कामना के, आकांक्षा (इच्छा) के दीन-दुखियों-जरूरत मंद को एवं जन साधारण को तृप्त एवं संतुष्ट करता है।" अंगुत्तरनिकाय में उन्होंने भिक्षुओं को शिक्षा दी है-

"द्वेमा भिक्खवे, आसा दुप्पजहा..... लाभासा च जीविताशा च।"[23]

अर्थात्-"भिक्षुओ! दो प्रकार की आशाएं (इच्छाएं) बड़ी कठिनता से छूटती हैं - एक लाभ और दूसरी जीवन की आशा।" उनका मानना था कि धन्य है वह जो आशा नहीं रखता, क्योंकि वह कभी निराश नहीं होगा। जितनी ज्यादा आशा होगी, उतना ही व्यक्ति के भीतर पदार्थ के प्रति **'ममत्व भाव'** जागेगा। वह उसमें ही उलझकर रह जाएगा।

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

यह 'अनिच्छा' का भाव ही अपरिग्रहत्व को मजबूत करता है। "इच्छा से दुःख आता है, इच्छा से भय आता है। जो इच्छाओं से मुक्त है, वह न दुःख को जानता है और ना ही भय को" गौतम बुद्ध का यह सुभाषित भी इसी ओर इंगित करता है।

संयुत्तनिकाय में अपरिग्रह

"जो तृष्णा को बढ़ाते हैं, वे उपाधि को बढ़ाते हैं और उपाधि दुःख को बढ़ाती है।" बौद्ध दर्शन में अनेक प्रकार की तृष्णाओं का वर्णन है। जिसमें **(1) भव तृष्णा (2) विभव तृष्णा और (3) काम तृष्णा**"[24] मुख्य रूप में है।

"भवतृष्णा अर्थात् अस्तित्व या अधिकारयुक्त बने रहने की तृष्णा है, यह राग स्थानीय है। विभव तृष्णा स्वयं के अस्तित्व को खत्म करने या नष्ट हो जाने की द्वेष स्थानीय तृष्णा है और तीसरी कामतृष्णा भोगों को प्राप्त करने की तृष्णा है। छह-छह विषयों की क्रमशः भव, विभव और काम तृष्णा के आधार पर बौद्ध साहित्य में तृष्णा के 18 भेद भी माने गए हैं।

सारीपुत्र का ध्यानपूर्वक अल्पायु में निधन होने पर भगवान बुद्ध ने कहा- "सारीपुत्र की तरह प्रज्ञा से, शील और चित्त की शांति से जो भिक्षु पार चला जाता है वही परम पद (निर्वाण) को प्राप्त करता है। सारीपुत्र **"अल्पेच्छा"** वाला था। यहाँ उल्लिखित 'अल्पेच्छा' असंग्रह और अनासक्ति की भावना को व्यक्त करता है। गोधिक कुलपुत्र के संदर्भ में कहा- "तृष्णा को जड़ से उखाड़कर धृति सम्पन्न गोधिक ने परिनिर्वाण पा लिया"।25 इस प्रकार बौद्ध दर्शन में वितृष्णता, भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति को मुक्ति (निर्वाण) प्राप्ति का प्रथम साधन माना हैं।

बौद्ध दर्शन में बोधि प्राप्ति और अनासक्ति के लिए **'मनोनिग्रह'** पर भी बल दिया है। बुद्ध ने कहा-"यह चित्त कठिनता से निग्रहित होता है। यह यथेच्छ विचरण करने वाला स्वच्छंद है। इसलिए इसका दमन करना ही श्रेयस्कर है, दमित किया हुआ चित्त और इन्द्रियां सुखकारक होते हैं।"

मज्झिम निकाय में इन्द्रिय संयम, आत्मदमन के लिए कहा है- "पंडितजन ही आत्मा का दमन किया करते हैं।" बौद्ध दर्शन में इच्छा गुण के अभाव को ही अपरिग्रह अवस्था माना है। यही निर्वाण प्राप्ति का उत्तम साधन है। **"निरोधो निव्वाणं"**-दुःख का निरोध करना ही निर्वाण हैं। दुःख का निरोध तृष्णा का नाश होने पर ही संभव है।

बोधिचित्तोत्पाद और अपरिग्रह

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

बौद्ध साहित्य में 'बोधिचित्तोत्पाद' की भावना में अपरिग्रह अन्तर्निहित नजर आता है। **"बुद्धो भवेयं जगतो हिताय"** अर्थात्-सभी प्राणियों को दुःखों से मुक्त करने के लिए मैं बुद्धत्व प्राप्त करूंगा, ऐसी अभिलाषा बोधिचित्त कहलाती है। डॉ श्वेता जैन के अनुसार- "बोधि प्राप्ति की दिशा में अभिमुख होकर तद्गत चर्यापथ में गति करना **'बोधिचित्तोत्पाद'** कहलाता है।" बौद्ध दर्शन की इस अवधारणा को महायान में प्रवेश का द्वार कहा है।"[26] 'बोधिचित्तोत्पाद' तीन शब्दों के संयोग से बना है। जैसे बोधि-सम्यगज्ञान, चित्त-मन अथवा विचार और उत्पाद अर्थात् उत्पत्ति। इस प्रकार बोधिचित्तोत्पाद का अभिप्राय है-**"चित्तोत्पादः परार्थाय सम्यक्सम्बोधिकामता।"**[27]

इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि "सांसारिक प्राणियों को दुःख से दुःखी देखकर उनके दुःखों को दूर करने वाली भाव प्रवणता बोधिचित्तोत्पाद है।" यह महाकरुणा से युक्त है। "बोधिचित्त सभी प्राणियों के आनंद का स्त्रोत है। इसमें दुःख शान्त होकर सुखों से तृप्ति मिलती है।"[28]

बौद्ध दर्शन में दान

'अपरिग्रह' तत्त्व के महत्वपूर्ण अंग **"दान"** के विषय में भी बौद्ध दर्शन में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। व्यक्ति के भीतर दान की भावना तभी साकार रूप ले सकती है जब उसकी अंतर आत्मा में 'अपरिग्रही वृत्ति' का जन्म होता है। अधिकार मुक्त अवस्था आती है। अपने हिस्से की कुछ वस्तु को देने की भावना जागती है। इसे ही बुध्द **"दान पारमिता"** कहते हैं।

'बोधिचित्तोत्पाद' के लिए अनेक पारमिताओं का अभ्यास किया जाता है। इन पारमिताओं के अभ्यास से आध्यात्मिक विकास होता है। उनमें एक है **'दान पारमिता'**। 'दान पारमिता' और 'अपरिग्रह' का आंतरिक एक्य संबंध के संदर्भ में लिखा गया है- "सब जीवों के लिए दान तथा दान फल का भी त्याग दान पारमिता है। दान के अनन्तर यदि फल की आकांक्षा बनी रहती है, तो वह कर्म बन्धन कारक होता है। अपूर्ण रहता है। अतः फल के प्रति पूर्णतः विरत होने से ही वस्तु के प्रति ममत्व का त्याग संभव बनता है। सांसारिक दुःख का मूल सर्व परिग्रह है। परिणामतः 'अपरिग्रह' के द्वारा भव दुःख से विमुक्ति मिलती है। दान के अभ्यास करने वाले को किसी भी वस्तु का ग्रहण त्यागचित्तता से करना चाहिए।" 'दान पारमिता' में पदार्थ दान, धर्म दान, अभय दान आदि अनेक प्रकार के दान सम्मिलित हैं। दान देने से परित्याग की भावना बढ़ती है और त्याग शक्ति का विकास होता है। इसलिए कहा है-**"वीतरागेसु, वीतदोसेसु, वीतमोहेसु, विगतिच्छेसु दिन्नं होति महप्फलं।"**[29] अर्थात् 'राग, द्वेष, मोह और इच्छा रहित होकर दिया गया 'दान' महाफलदायी होता है।'

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

सद्गुणों में प्रथम **"दान"** की प्रवृत्ति का संवर्धन करने से लोभ और तृष्णा का नाश होता है तथा अपरिग्रही वृत्ति का विकास होता है। बुद्ध का अभिमत था कि **"दिन्नं होती सुनीहितं"**[30] "दिया हुआ चिरकाल तक सुरक्षित रहता है।" **"ददं मित्तानि गन्थति"**[31] अर्थात्-"दान से मित्रता बढ़ती है।" "सत्कार पूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, दोष रहित दान दो।" "मात्सर्य और प्रमाद पूर्वक दान नहीं देना चाहिए।" दान का महत्व प्रतिपादित करते हुए बुद्ध उपदेश की भाषा में कहते-

"अप्पस्मा दक्खिणादिन्ना, सहस्सेन समंमता।"[32]

अर्थात्-थोड़े में से जो दान दिया जाता है, वह हजारों लाखों के दान की बराबरी करता है।" उन्होंने आगे कहा-"भिक्षुओ! दान के दो प्रकार है- भौतिकदान **(आमिसदानं)** और धर्मदान **(धम्मदानं च)** इनमें से धर्मदान श्रेष्ठ है। सब दानों से बढ़कर है। धर्मदान का एक रूप है- अभयदान।' जीवन देना- अभयदान है। इस अभयदान को सर्वोतम दान बताया गया है।[33] यह अहिंसा और अपरिग्रह की भावना से प्रेरित होता है।

भगवान बुद्ध की वाणी का संकलित स्वरुप बौद्ध दर्शन में 'पिटक' कहलाता है।" जैन आगमों की मूल भाषा **"प्राकृत"** या **"अर्धमागधी"** है। जबकि बौद्ध पिटकों की रचना **"पाली"** भाषा में हुई है।[34] भगवान महावीर ने **"अपरिग्रह"** के संबंध में जिस तरह श्रमण और श्रावक दोनों को सम्मिलित किया हैं। वैसा व्यवस्थित वर्णन बौद्ध साहित्य में देखने में नहीं आता। फिर भी तथागत बुद्ध द्वारा उपदेशित चार आर्य सत्यों में तीसरा **"दुःख निरोध"** (निवारण) के अन्तर्गत **'अपरिग्रह'** भावना का विस्तार से वर्णन मिलता है।

गौतम बुद्ध के उपदेशों में 'परिग्रह' को 'मिथ्याचार' (मिथ्यादृष्टि) शब्द से भी संबोधित किया है। 'बुद्ध इच्छाओं (तण्हा,पाली में) को सभी दुःखों का कारण बताते हैं। इसलिए वे लोगों को सलाह देते है कि जीवन के इस सत्य को स्वीकार कर इच्छाओं का त्याग करो क्योंकि जीवन में कुछ भी निष्चित और स्थाई नहीं है, यहां तक कि पहचान भी।"[35] बुद्ध द्वारा उपदेशित 'द्वादश निदानों में पाचवां निदान **"तृष्णा का निदान"**[36] रहा है। जिसकी तुलना जैन दर्शन के **"अपरिग्रह"** सिद्धान्त के साथ की जा सकती है। उनका मानना था कि -"तृष्णा से ही आसक्ति (मूच्छा) होती है। आसक्ति से ममत्व, ममत्व से मात्सर्य, मात्सर्य से असुरक्षा भाव, पदार्थ की खींचातान एवं संचय वृत्ति बढ़ती है।" पदार्थासक्ति में दण्ड प्रयोग, शस्त्रप्रयोग, हिंसा, कलह-विवाद, चोरी, असत्य भाषण आदि अनेक दोष व विकृतियां उत्पन्न होती हैं।"

दस शील और अपरिग्रह

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए **'दस शीलों'** का उल्लेख किया है, उनमें से अंतिम 4 अपरिग्रह के ही विस्तार कहे जा सकते हैं। जैन साधना पद्धति में जैसे गृहस्थ के लिए **'बारह व्रतों'** का विधान है वैसे ही बौद्ध परम्परा में उपासकों के लिए **'अष्टांग शील'** की धारणा मिलती है। जैन परम्परा में **"पांच महाव्रतों"** और बौद्ध परम्परा में "दस भिक्षु शीलों" में न केवल शाब्दिक समानता देखी गई वरन् दोनों की भावना भी लगभग समान है। जैसे-

(1) प्राणातिपात विरमण,
(2) अदत्तादान विरमण,
(3) अब्रह्मचर्य विरमण,
(4) मृषावाद विरमण,
(5) सुरामेय मद्य विरमण,
(6) रात्रि एवं विकाल भोजन विरमण,
(7) नृत्यगीत वादित्र विरमण
(8) माल्यधारण गंध विलेपन विरमण,
(9) उच्च शय्या विरमण,
(10) जातरूप रजत ग्रहण विरमण।"[37]

"बौद्ध दर्शन में उपरोक्त दस शीलों जिन्हे श्रामणेर शील भी कहते हैं, के अंतर्गत मादक द्रव्यों के त्याग को पंचम व्रत के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है कि मद्यपान से मूर्च्छा तिरोहित होती है और मूर्च्छा से परिग्रह के संग्रह में प्रवृत्ति होती है। अन्तः चेतना की जागृत अवस्था में मनुष्य का मोह भंग हो जाए तो पदार्थ की मूर्च्छा हटने लगेगी जिससे वह परिग्रह साधनों का सहारा नहीं लेगा, अपरिग्रही वृत्ति को अपनाएगा।"[38]

अंगुत्तर निकाय में सातवें शील नृत्यगीत वादित्र विरमण के संदर्भ में कहा गया-नृत्य गीत, वाद्य वादन आदि का प्रयोग भिक्षु के लिए वर्जित है। आठवां शील माल्य गंध धारण विलेपन विरमण इसलिए है कि माला आदि धारण करना, सुंगधित पदार्थों का विलेपन करने से विलासिता को बढ़ावा मिलता है। इसी का विस्तार करते हुए नौवें व्रत में भिक्षुओं के लिए ऊंची या कोमल शय्या पर सोने का निषेध है और दसवें शील में स्वर्ण, रजत आदि के उपयोग की सर्वथा मनाही है।"[39]

इच्छाओं के अल्पीकरण तथा अनावश्यक का सीमाकरण करते हुए तथागत बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए आवश्यक वस्तुओं में चीवर, भिक्षापात्र, आसन आदि सीमित वस्तुएं रखने का विधान बनाया। इस प्रकार बौद्ध परम्परा में संन्यासी-भिक्षुओं के परिग्रह (पदार्थ) को

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

अत्यंत सीमित रखने का निर्देश है।[40] उपरोक्त विवेचन अपरिग्रही वृत्ति की मानसिकता का दिग्दर्शन कराती है।

जैन उपासना पद्धति में श्रमणोपासक श्रावक के लिए "पौषध" का विधान है। इसी तरह बौद्ध परंपरा में भी पौषध की भांति "उपोसथ" करने की परम्परा रही है। बुद्ध के अनेक भक्त (उपासक) अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या को 'उपोसथ' किया करते थे।" उपोसथ में उपासक आठ शील के अंतर्गत नृत्य, गीत, शरीर की विभुषा आदि नहीं करना तथा उच्चासन, सजी-धजी शय्या का त्याग करता था।" अर्थात्- सादगीपूर्ण दिनचर्या व्यतीत करते हुए परिग्रह मात्र से दूर रहकर केवल आध्यात्मिकता को ही महत्व दिया जाता था।"

बुद्ध ने जिस अनात्मवाद का सिद्धान्त दिया, उसके पीछे भी उनकी मूल दृष्टि आसक्ति त्याग ही थी। बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति चाहे बाह्य पदार्थ की हो, चाहे वह किसी अतिन्द्रिय आत्मज्ञान के अस्तित्व की हो, वह बंधन ही कहलाएगा। परिग्रह की श्रेणी में चला जाएगा। इसलिए बुद्ध का मानना है कि परिग्रह का मूल 'इच्छा' (आसक्ति) है।" "लोभी मनुष्य आसक्ति के कारण अनेक प्रकार के दुःख का अर्जन करते हैं।" इस असीम तृष्णा के लिए अज्ञानी जीव जीवन की बाजी को भी लगा देते है। वस्तुतः देखा जाए तो तृष्णा की समाप्ति के लिए बुद्ध की दृष्टि में एक ही उपाय है-भीतर में संतोष वृत्ति या त्याग भावना का उदय। आचार्य बुद्धघोष ने चैतसिक शील के संबध में कहा-लोभ (अभिध्या) को त्यागकर,लोभरहित चित्त से जो भिक्षु विहरण करता है। सम्यक् दृष्टि तथा 'प्रतिहिंसा और लोभ से रहित होना ही कुशल चैतसिक शील है।[41] इस राजपथ पर चलकर या अपरिग्रह को अपनाना ही जीवन का सर्वोत्तम उपहार साबित होगा।

विख्यात् इतिहासविद्, दर्शन जगत के व्याख्याता राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है- "बुद्ध के अनुसार दुःख का हेतु क्या है? उत्तर-तृष्णा।" इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय या काम भोग है, उन विषयों के साथ संपर्क, उनका ख्याल ही 'तृष्णा' को पैदा करता है। उसी तृष्णा के अत्यन्त निरोध परित्याग एवं विनाश को 'दुःख निरोध' कहते है। प्रिय विषयों और तद्विषयक विचारों, विकल्पों से जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णा का निरोध होता है।"

संकृत्यायनजी ने 'दुःख निरोध' की प्रक्रिया बताते हुए आगे लिखा- "तृष्णा के नाश होने पर 'उपादान' अर्थात् विषयों के संग्रह करने का निरोध होता है। उपादान के निरोध से भव का निरोध होता है। भव का निरोध होने से पुनर्जन्म का और पुनर्जन्म के निरोध से बुढ़ापा, मरण, शोक, मन की खिन्नता, हैरानगी नष्ट हो जाती है इस प्रकार तृष्णा के दुःख का निरोध होता है। यही दुःख निरोध बुद्ध के सारे दर्शन का केन्द्र बिन्दु है।"[42]

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

यहां जो 'तृष्णा के दुःख निरोध' की चर्चा है वही अपरिग्रह सिद्धान्त से मेल खाती है। परिग्रह के दुष्परिणाम जैसे अन्य दर्शनों में बताएं है वैसे ही बौद्ध दर्शन भी स्वीकार करता है, इस बात से स्पष्ट हो जाता है। बुद्ध ने भी "तृष्णा निरोध" पर ही सबसे ज्यादा जोर दिया है।

महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मण कौन है? जिज्ञासा के समाधान में कहा- "ब्राह्मणी माता के गर्भ से जन्म लेने वाले को मैं ब्राह्मण नहीं मानता। जो अकिंचंन है, तृष्णा रहित है, जो तृष्णा को त्याग कर प्रव्रजित होता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जिसको भूत, वर्तमान या भविष्य में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रहती, जो परिग्रह और आसक्ति से रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।"[43]

तथागत बुद्ध ने निर्वाण उसी अवस्था को माना है, जहां तृष्णा संपूर्णतः क्षीण हो गई। आश्रव, चित्तमल अर्थात् भोग पदार्थ, जन्मान्तर और विशेष मतवाद की तृष्णाएं जहां नहीं रह जाती, समाप्त हो जाती है।"

निर्वाण प्राप्ति या उत्तम समाधि की प्राप्ति में बाधक दुष्कर तृष्णा को दुःखों का मूल कारण माना है। इसलिए उन्होंने वैयक्तिक तृष्णा के दुष्परिणाम का चित्रण करते हुए कहा- "चिरकाल से तुमने..... माता, पिता, पुत्र आदि परिवार जन के मृत्यु के वियोग को सहन किया है। भोग एवं रोग की मुसीबतों (तकलीफों) को सहा। प्रिय के वियोग में तथा अप्रिय के संयोग होने पर क्रंदनावस्था में जितने आंसू तुमने जन्म-जन्मातरों में बहाए होगें वे आंसू चारों समुद्रों के जल से भी ज्यादा होंगे।"

तृष्णाओं का त्याग ही मुक्ति अर्थात् "निर्वाण" है। तृष्णा रहित होकर ही भिक्षु अनासक्त बन सकता है। विषयों तथा उनसे संबधित उपादानों का संग्रह या परिग्रह का भाव तृष्णा रूपी बेल को बढ़ाता है। इस तरह कहा जा सकता है कि प्रकारांतर से अपरिग्रह की अवधारणा परोक्ष रूप में यहां नजर आती है।

ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में बुद्धघोष ने तेरह प्रकार के "धुतांगों" का वर्णन किया है। जिनका पालन करना भिक्षु के लिए अत्यावश्यक माना गया है। त्याग, तितिक्षा, वैराग्य, निर्लोभता आदि की वृद्धि के लिए इन धूतांगों का विधान किया गया है। उनके मूल में सर्वत्र ही "अपरिग्रह" की भावना अंतर्निहित है। ऐसा चिंतन रखने वाले डॉ. आनंद मंगल वाजपेयी ने 'विसुद्धमग्गों', परिच्छेद 1 का हवाला देते हुए लिखा है कि - "ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में प्रत्यय संनिक्षित शील का वर्णन है। उसमें भिक्षु के चीवर, पिडंपात आदि के प्रयोग में

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

अपरिग्रह की देशना विशेष महत्व रखती है। बुद्धघोष कहते हैं कि योगी को इतने ही चीवर के सेवन की आवश्यकता है जितने से शीत, उष्णता, मच्छर, वात, धूल, सरीसृप आदि से बचाव हो सके और लज्जा का नाश न हो।"[44]

"पिडंपात भिक्षा का विधान केवल शरीर धारण करने के निमित्त ही विहित है। योगी जो भोजन करता है वह क्रीड़ा के लिए नहीं है, न मद के लिए, न विभुषा के लिए बल्कि भिक्षु अपनी जीवन-यात्रा को ही ध्यान में रखकर "पिडंपात" ग्रहण करता है। यहां भी तृष्णा या परिग्रह भावना का त्याग ही व्यंजित है। ये सभी 13 व्रत क्लेशों को नष्ट करने के कारण धूत (परिशुद्ध) भिक्षु के आचरण के अंग है। क्लेशों को धुन डालने के कारण भी इन्हें "धूतांग" कहा जाता है। इन सभी में 'अपरिग्रह' की भावना अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित होती है।"

उपरोक्त नियमों को स्वयं बुद्ध ने भी जीया था जिसका समर्थन इस रुप में मिलता है- 'गौतम बुद्ध का जीवन अत्यन्त सादगीपूर्ण एवं त्यागमय था। वे दिन में केवल एक बार ही भोजन करते थे। ज्ञान प्राप्ति के पष्चात् उन्होंने कोई वस्त्र किसी गृहस्थ से नहीं लिया। एक बार उनके पुत्र राजकुमार ने उन्हें अपने महल में आमन्त्रित किया। भगवान बुद्ध के स्वागत में दूर तक कालीन बिछाये गए थे। यह देखकर भगवान बुद्ध ठहर गए। उनके प्रिय षिष्य आनन्द को समझते देर नहीं लगी। उन्होने राजकुमार को कहा,'राजकुमार! ये कालीन हटा लो। तथागत इन पर नहीं चलेंगे।' राजकुमार ने कालीन हटा लिए और गौतम बुद्ध आगे बढ चले। अल्प भेजन, अल्प वस्त्र तथा वृक्ष के नीचे खुली जगह ही उन्हें प्रिय थी। इस प्रकार वे त्याग, प्रेम तथा करुणा की प्रतिमूर्ति थे।[45]

विपश्यना और अपरिग्रह

प्रो. अंगराज चैधरी का मानना है कि विपश्यना और अपरिग्रह में बड़ा गहरा संबंध है, अन्योन्याश्रय संबंध है। इस व्रत का पालन बिना विपश्यना अभ्यास के नहीं हो सकता। परिग्रह के मूल में लोभ है और यह मिथ्यादृष्टि है कि जिसका हम संग्रह कर रहे हैं वह शाश्वत नहीं तो दीर्घ-स्थायी तो है ही। विपश्यना का अभ्यास कर हम अपरिग्रह के भाव को बढ़ा सकते है। इस अर्थ में विपश्यना साधना है और अपरिग्रह साध्य है।[46]

उन्होंने सुत्तपिटक के ब्रह्मजाल सुत्त के अंतर्गत उल्लिखित लोभ भाव का विवेचन करते हुए कहा -"लोभ को मन से निष्कासित करना बड़ा ही कठिन कार्य है। लोभ बहुत बड़ा विकार है। असाध्य प्रयत्न करना पड़ता है। अपरिग्रह और संतोष भाव को विकसित करके ही हम लोभ

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

को मन से दूर कर सकते हैं।" संतोष के भाव को विकसित करने में विपश्यना हमारी बड़ी सहायता करती है।" विपश्यना के अभ्यास की उपलब्धि दर्शाते हुए चैधरी जी लिखते हैं - "विपश्यना के गहन अभ्यास से हम वस्तुओं के अनित्य स्वभाव को अनुभव से जानकर, उनसे अनासक्त हो परिग्रह संग्रह करने परांगमुख होते हैं। विपश्यना के अभ्यास से जिसने प्रज्ञा विकसित की है, जो अनुभव से वस्तुओं के असली स्वभाव को जानता है, वही सच्चे अर्थ में अपरिग्रही है। वही अपरिग्रह व्रत का सच्चे अर्थ में पालन करेगा।"

महायान में अपरिग्रह

प्रज्ञापारमिताओं और अन्य प्राचीन महायानी साहित्य के आधार पर शून्यवाद की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा करने वाले और उसे व्यवस्थित स्वरूप देने वाले बौद्ध दर्शन के युग विधायक आचार्य नागार्जुन रहे हैं।[47] उनके द्वारा अनके ग्रन्थों की रचना हुई- महाप्रज्ञापारमिता सूत्र, शून्यतासप्तति, विग्रह व्यवर्तिनी, और माध्यमिक कारिका आदि।

महायान के अनुसार साधकों की तीन श्रेणियां हैं- (1) श्रावक (2) प्रत्येकबुद्ध और (3) बोधिसत्व। बुद्ध और बोधिसत्व के अर्चन और अनुग्रह के द्वारा व्यक्ति को तृष्णा क्षय करके मुक्ति के मार्ग में सहयोग को बल देता है। सम्राट अशोक के काल में इस विचारधारा को प्रचारित व प्रसारित होने का अवसर मिला।

आचार्य नागार्जुन ने लिखा है- 'कर्म क्लेशों के क्षय से मोक्ष होता है। कर्म क्लेश विकल्पों से उत्पन्न होते हैं। विकल्पों का उद्भव 'प्रपंच' से होता है। सर्व प्रपंच-निवृति मूलक होने से शून्यता ही निर्वाण होता है। यहां उल्लिखित कर्म क्लेश का संबंध आसक्ति एवं तृष्णा से है। ये परिग्रह के पर्यायवाची होकर दुःख के कारण हैं। इन सब से मुक्त होने में अपरिग्रह का भाव बहुत ही उत्तम उपाय साबित हो सकता है।

धार्मिक विषयों को लेकर बौद्धमत के दो संप्रदाय हो गए- (1) हीनयान और (2) महायान। हीनयान में बौद्धधर्म का प्राचीन रूप पाया जाता है। जबकि महायान अर्थात् "बड़ा पंथ" में उदारता तथा धर्मप्रचार की भावनाएं वर्तमान थी। फलस्वरूप महायान का प्रचार हिमालय के उत्तर चीन, कोरिया तथा जापान तक हो गया।"

महायान की विभिन्न शाखाओं में अनासक्ति संबंधी कुछ विचार देखे गए। नागार्जुन कहते हैं कि यदि मनुष्य यह समझ सके कि संसार का पारमार्थिक रूप क्या है तो संसार में रहकर भी निर्वाण को प्राप्त कर सकता है- "न संसारस्य निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम्"। इस प्रकार महायान सांसारिक संघर्षों से अलग रहने की शिक्षा तो नहीं देता, किन्तु इस बात पर

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

बल देता है कि हमारे सांसारिक कार्य आसक्ति पूर्ण न हों। अनासक्ति प्रधान हो।"[48] बौद्ध महायान परम्परा के 'बौद्ध सिद्धान्त सार' में 10 कुषल कर्म पथ और 10 अकुषल विरति शील का उल्लेख है। प्रोः कृष्णनाथ ने 10 अकुषल शील को तीन भागों में मन,वचन कायिक के प्रकार विष्लेषित करते हुए लिखा-'मानसिक अकुषल के तीन प्रकारों में एक है-'अभिध्या' अर्थात दूसरे की संपत्ति को हडपने की इच्छा करना। यह लोभ से प्रेरित विषेष भाव है। महायान परम्परा में द्विविध आवरणों की अवस्था है- (1) क्लेशावरण और (2) ज्ञेयावरण। पुद्गलात्मकदृष्टि तथा उससे संबद्ध 'क्लेशावरण' कहलाता है। पुद्गलात्मकदृष्टि से तात्पर्य है पुद्गल अर्थात् आत्मा को ग्रहण करने वाली दृष्टि। क्लेशों के अतिरिक्त बाह्यार्थ दृष्टि अर्थात् बाह्यस्थित श्रेय पदार्थों को सत् समझने वाली दृष्टि 'ज्ञेयावरण' है। यह आवरण सर्वज्ञता की प्राप्ति में बाधक होता है।"[49] इस प्रकार बौद्धदर्शन की महायान परम्परा में भी 'अपरिग्रह' का विचार कर्म, क्लेशक्षय, अनासक्ति, तृष्णाक्षय आदि स्वरूपों में प्राप्त होता है।

निष्कर्ष

बौद्ध दर्शन के विभिन्न ग्रन्थों का परिशीलन करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि- महात्मा बुद्ध ने परिग्रह की भावना को 'तृष्णा' नाम से पहचाना है। बौद्ध ग्रन्थों में आसक्ति-तृष्णा को सभी बन्धनों एवं दुःखों का मूल माना है। बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति चाहे पदार्थों की हो या आत्मा के अस्तित्व की हो, वह बंधन ही है। तृष्णा का प्रहाण होना ही निर्वाण है।

बौद्ध दर्षन में 'परिग्रह' या अपरिग्रह शब्द का प्रयोग न हुआ हो फिर भी भाव,भाषा तथा उपमा आदि के द्वारा अपरिग्रह भावों से वह प्रभावित दिखाई देता है। परिग्रह शब्द के स्थान पर वहां मोह, ममता, आषा, तृष्णा, लोभ आदि शब्दों का प्रयोग किया है। बौद्ध दर्षन में निष्परिग्रहत्व पर भी बल दिया गया।

इस तरह के प्राप्त वर्णन के अनुसार हम यह कह सकते हैं, ज्ञातपुत्र महावीर के समकालीन रहे गौतम बुद्ध ने भी चाहे "संतोषवृत्ति" या, 'अनासक्ति' अथवा 'वितृष्णा' या 'तृष्णा त्याग' को अपने जीवन सिद्धान्तों में स्थान देकर "अपरिग्रह" व्रत को पुष्ट किया है।

सन्दर्भ सूची

(1) धम्मपद 15-6 पृ. 92.
(2) धम्मपदं-तणहावग्ग, 24-19 पृ. 156.
(3) धम्मपद प्राकृत-84 पृ. 68.

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

(4) धम्मपदं(पाली)-342 पृ. 151.
(5) धम्मपदं प्राकृत ब्राह्मणवर्ग, 8 से 10 पृ. 61.
(6) भदन्त आनंद कौसल्यायन,पाली हिन्दी कोष पृ. 9.
(7) धम्मपदं(पाली)-352 पृ. 156.
(8) वहीं पृ. 148.
(9) वहीं 353 पृ. 156.
(10) वहीं, तण्हावग्ग-359 पृ. 159.
(11) मज्झिमनिकाय-(महादुःखन्ध) 1-2-3 पृ. 54.
(12) पातंजल योग प्रदीप-बुद्ध वचन सूत्र 17 पृ. 301.
(13) राहुल सांकृत्यायन, मज्झिमनिकाय- पृ. 168.
(14) दत्त एवं चटर्जी, भारतीय दर्शन- पृ. 66.
(15) सुत्तनिपात 68-5.
(16) सुत्तनिपात 26/19-23 भिक्षु धर्मरत्न, थेरगाथा 16-734.
(17) सुत्तनिपात तथा बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त पृ. 38.
(18) पाली हिन्दी कोष पृ. 45.
(19) धम्मपद प्राकृत 162 पृ. 74.
(20) अंगुत्तर निकाय 2-11-3 पृ. 131.
(21) विशुद्ध मग्ग 1-1 धनमुनि, वक्तृत्व कला के बीज, भाग-2 पृ. 131.
(22) अंगुत्तर निकाय 9-2-4.
(23) अंगुत्तर निकाय 2-11-1 पृ. 120.
(24) संयुक्त निकायो-2 खन्धो 1 भार वग्ग-3, पृ. 23, 24.
(25) वहीं 4-3-3 एवं भगवती आराधना परिषीलन पृ. 273.
(26) डॉ. श्वेता जैन (आलेख) अपरिग्रह विश्वकोश, पृ. 388.
(27) बोधिचर्यावतार, महाबोधि सभा सारनाथ (बनारस) पृ. 8.
(28) बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त पृ. 70.
(29) धम्मपद-359 पृ. 159.
(30) अंगुत्तर निकाय 3-6-2.
(31) सुत्तनिपात 1-107.
(32) अंगुत्तर निकाय 1-1-32.
(33) बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त- पृ. 73.
(34) दत्त एवं चटर्जी, भारतिय दर्षन पृ. 137.

Copyright©authors

ISSN 2277-2359
Vol-11-Issue-12
December- 2019

(35) देवदत्त पटनायक, मेरी गीता, पृ. 234.

(36) अंगुत्तर निकाय-निपात तन्हा मूलक सुत्त.

(37) बौद्ध धर्म दर्शन-आचार्य नरेन्द्र देव पृ. 19.

(38) डॉ. सुषमा सिंघवी अपरिग्रह विष्वकोष पृ.23.

(39) डॉ. आनंदमंगल वाजपेयी (आलेख) अपरिग्रह विष्वकोष पृ.523.

(40) विनयपिटक महावग्ग पेटावत्थु अट्ठकथा गाथा 209 पृ. 138.

(41) दर्शन-दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन पृ. 506.

(42) मुनि नथमल, उत्तराध्ययन:एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ. 49, 51.

(43) धम्मपद प्राकृत-161 पृ. 74.

(44) धर्मचन्द जैन, श्वेता जैन, बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त पृ. 25.

(45) डॉ. आनंद मगंल वाजपेयी (आलेख) अपरिग्रह विश्वकोश- पृ. 523.

(46) कृष्ण गोपाल, भारत की संत परम्परा और सामाजिक समरसता पृ. 80.

(47) मुनि राकेश कुमार भारतीय दर्शन के प्रमुख वाद, पृ. 69.

(48) प्रो. कृष्णनाथ (आलेख) अहिंसा विष्वकोष पृ. 484.

(49) बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, पृ. 119.

Copyright©authors